

एक स्कूल मैनेजर की डायरी के कुछ पन्ने-XI

बच्चों से एक मुलाकात

फ़राह फ़ारूकी

हमारे देश में अनिवार्य शिक्षा का कानून बन जाने के बावजूद आज भी बहुत से बच्चों को स्कूल तक पहुंचने में अनेक परेशानियों का सामना करना पड़ता है। तमाम सामाजिक-आर्थिक बंदिशें इन बच्चों को स्कूल से जुदा रखती हैं और जो बच्चे स्कूल पहुंच भी जाते हैं, उनकी भी अनेक तकलीफें होती हैं। यह लेख ऐसे ही बच्चों की सामाजिक-आर्थिक स्थिति का जीवन्त विवरण पेश करता है।

इस किस्त का मकसद स्कूल के कुछ बच्चों से आपकी मुलाकात करवाना है। इनकी जिन्दगी की जद्दोजहद, ख़ाब, अरमान, उड़ान, मायूसी, तकलीफ़, शरारत के रंगों से आपको रूबरू करवाना है। जिन बच्चों का ताररूफ़ मैं आपसे करवा रही हूँ उनकी जद्दोजहद और रोजमर्रा की जिन्दगी, पाठ्यक्रम और शिक्षा तंत्र पर गहरे सवाल खड़े करती है। एक स्वाभाविक-सा सवाल यह है कि क्या इनके पास वक़्त है कि यह मध्यवर्गीय बच्चे को ध्यान में रखते हुए बनाए गए पाठ्यक्रम से जुड़ें? हाल में मेरे बेटे ने बारहवीं का इम्तिहान दिया है तो मुझे इस बात का एहसास और ज़्यादा है कि इतना लम्बा चौड़ा तथ्यों से लैस पाठ्यक्रम हमारे स्कूल के बच्चों को सिर्फ़ पीछे ही धकेल सकता है। इनकी जिन्दगी में वक़्त की सख़्त किल्लत है। बजाय ऐसे पाठ्यक्रम के क्या इन्हीं बच्चों की जिन्दगी से कुछ नगीने उठाकर इन्हें बदलने और बदलाव लाने की शिक्षा दी जा सकती?

नीचे दिए गए दस बच्चों की कहानी, स्कूल के कम से कम 65 फ़ीसदी बच्चों और इलाक़े के हज़ारों बच्चों की कहानी है। यहां यह कहना ज़रूरी है कि हमारे बहुत से प्राइमरी स्कूलों के बच्चों

की कहानियां इन्हीं से मिलती-जुलती होती हैं बल्कि और ज़्यादा तकलीफ़दे होती हैं। लेकिन मेरा ताल्लुक़ इन बच्चों से इतना लम्बा और गहरा नहीं रहा है, कि मैं इनकी कहानियां यहां दर्ज कर सकूँ। जिन बच्चों का ज़िक्र यहां पेश है उन बच्चों से लगातार कई साल से मेरी जान-पहचान, मुलाकात है। वैसे तो बहुत से बच्चों को जानने-समझने का मुझे मौक़ा मिला है, जिनमें से फ़िलहाल इन दस से तो आप मिलें। जब आप ये कहानियां पढ़ेंगे तो एहसास होगा कि ये बच्चे मेरे रिश्ते की दास्तां भी बयान करते हैं। इन बच्चों को बुलाकर एक औपचारिक से मसूई माहौल में इकट्ठा करके की गई बातें नहीं हैं बल्कि एक खूबसूरत रिश्ते का अक्स हैं।

ज़ीनत हमारे स्कूल की ज़ीनत है (2012, मई)

कल रेहाना ख़ातून इस दरखास्त के साथ स्कूल आई थीं कि उनकी बेटी ज़ीनत का फ़ोटो और इम्तिहान का नतीजा अख़बार में छपवा दिया जाए। वह खुशी से फूली नहीं समा रही थी। खुशी की बात भी थी। ज़ीनत का दसवीं क्लास में 9.8 परसेन्टाइल रैंक आया था और वह भी सिर्फ़ स्कूल का नहीं बोर्ड का इम्तिहान देने पर। उन्हें अपने बच्चे को तालीम याफ़ता देखने का ख़ाब पूरा होता लग रहा था। छः साल पहले अचानक उनके शौहर का इन्तक़ाल हो गया, अब वह जैसे-तैसे अपने बच्चों को पाल रही हैं।

स्कूल से 300 मीटर दूरी पर कटरा आत्मा राम में ज़ीनत का घर है। नतीजा आने के बाद मुबारकबाद देने के लिए मैं और

लेखक परिचय

दिल्ली विश्वविद्यालय के लेडी श्रीराम कॉलेज में बीएलएड कोर्स से जुड़ी रही हैं। आजकल जामिया मिलिया इस्लामिया के शिक्षा विभाग में प्रोफेसर हैं और दिल्ली एजुकेशन सोसाइटी से संबद्ध हैं।

प्रिंसिपल साहब उनके घर पहुंचे। दिन के वक़्त, टॉर्च की रोशनी में भी पतली, टूटी अंधेरी सीढ़ियां संभल-संभलकर चढ़नी पड़ रही थीं। चौथी मंज़िल पर छोटा-सा एक कमरा हमारी ज़ीनत, उसकी मां और चार बहन भाइयों का घर है। छः लोगों को उस छोटे से कमरे में सोने-पढ़ने में दुश्वारी ज़रूर होती होगी। एक कोने में बर्तन रखे थे, दूसरे में कपड़े। हां, एक तरफ़ ज़ीनत की प्लास्टिक की मेज़ कुर्सी ज़रूर पड़ी थी जो किसी रिश्तेदार ने उसे तोहफ़े में दी थी। साथ ही एक छोटा-सा लोहे का रैक रखा था। उसमें अभी से ग्यारहवीं की किताबें रखी थीं। रैक और किताबें उसने अपने वज़ीफ़े के पैसों से खरीदी थीं। एक तरफ़ टीवी भी रखा था। पता चला छोटे बहन भाई बस टी.वी. तब ही देख पाते हैं जब ज़ीनत घर में नहीं होती। उसकी पढ़ाई में वरना खलल होता है।

ये लोग ज़िला मधुबनी, बिहार के रहने वाले हैं। तक्रीबन 10-12 साल पहले जब ज़ीनत कुल तीन-चार साल की थी, उसके वालिद ने बीवी-बच्चों को अच्छी पढ़ाई की खातिर दिल्ली बुला लिया। वह खुद यहां पहले से रहते थे और डायरी बनाने के कारखाने में नौकरी करते थे। फिर कुछ पैसे जोड़कर कारखाना शुरू किया और बाकी परिवार को दिल्ली बुला लिया। गुज़र-बसर ठीक से चल रही थी कि उनकी अचानक मौत ने सब कुछ तहस-नहस कर दिया। रेहाना खातून ने दिल्ली में ही रुककर बच्चों की पढ़ाई जारी रखने का फ़ैसला किया। जबकि उनके मायके में लोग बेहतर हैसियत वाले हैं; फिर भी अपना घर तो अपना घर है और फिर बच्चों की पढ़ाई। इसी बिल्डिंग की पहली दो मंज़िलों में कारखाना चलता है। अब उनके शौहर के तीन भाई मिलकर यह कारखाना चलाते हैं और उन्हें बस चूल्हा जलाने भर के पैसे दे देते हैं। कारखाने में मज़दूरी करने वाले लड़के बिहार के ही हैं। यहां कम उम्र बच्चे सस्ती मज़दूरी पर भी काम कर लेते हैं। रेहाना खातून अपने देवरों और कभी इन मज़दूर लड़कों के लिए खाना पकाने और कपड़े धोने वगैरा का काम कर लेती हैं। काम करने का फ़ायदा यह होता है कि, “बगैर मुंह-नाक बनाए पैसे हाथ पर रख दिए जाते हैं।” कभी भाई और उनके वालिद भी मदद कर देते हैं। ज़ीनत और उसके चार बहन भाइयों का पढ़ाई-लिखाई जारी रखना किसी जंग से कम नहीं है। रेहाना खातून को अफ़सोस है कि अकसर उन्हें अपने घर वालों के सामने हाथ फैलाना पड़ता है।

ज़ीनत क्योंकि कक्षा में अव्वल आती रही है, उसे स्कूल की तरफ़ से छोटे-मोटे कई वज़ीफ़े मिले हैं। जैसे, पिछले साल उसे हर महीने एक हज़ार रुपये मिलते थे, जिससे वह अपनी कॉपी-किताब का खर्चा निकाल लेती थी। आठवीं कक्षा तक सरकारी मदद थी लेकिन “शिक्षा का अधिकार” भी आधे रास्ते में साथ छोड़ देता है। आगे का सफ़र खुद ही पूरा करना होता है।

ज़ीनत का ख़्वाब है कि वह आईआईटी (IIT) में दाख़िला ले पाए। हिसाब और विज्ञान में रुचि है। साथ ही यह तमन्ना है कि जल्दी से मां का सहारा बन सके। आज का व्यापारिक शिक्षा तंत्र यह तो बहका ही देता है कि कोचिंग के बगैर कोई चारा नहीं है। IIT के इम्तिहान के लिए अभी से कोचिंग में दाख़िला ले लिया है। दाख़िले के रुपये 40,000/- नाना ने दिए, मामू ने 18,000/- रुपये की किस्त भर दी। आगे की पांच किस्तों का अल्लाह ही मालिक है। लेकिन इरादे बुलन्द हैं, दिन-रात पढ़ना शुरू हो गया है।

मां का पूरा योगदान है। कहती हैं, “हमारी ज़ीनत को चाय भी बनानी नहीं आती है, बस दिन-रात पढ़ती रहती है।” इस पर ज़ीनत धीरे से मुस्कुरा देती है। इस पतली-दुबली सोलह साल की बच्ची की आंखों में ख़्वाब हैं, जज़बा है, लेकिन एक अजीब-सी उदासी भी है, जो मुझे डरा-सी गई। “आम” बच्चों से अलग, खेलकूद, टी.वी. तमाशों से दूर अपने परिवार का सहारा बनने के जोश में यह “बचपन” को कोसों दूर छोड़ आई है। ख़्वाब रंगीन सही, लेकिन रास्ता उसकी घर की सीढ़ियों की तरह अंधेरा और मुश्किल-सा है।

हां, यह जानकर आपको खुशी होगी कि ज़ीनत की कामयाबी की ख़बर, फ़ोटो समेत, उर्दू के कई अख़बारों में हमने छपवाई। अब ज़ीनत जैसे बच्चे भी तो स्कूल में चंद ही हैं।

पढ़ाई जारी रखना भी एक मुहिम है

एक दिन अचानक फ़ोन आया। शुरू में घबराई आवाज़ में जो कुछ कहा, समझना मुश्किल था। फिर कुछ इत्मिनान से अपना ताररूफ़ करवाया।

जमील - मैम, मैं -- स्कूल का ग्यारहवीं कॉमर्स का स्टूडेंट बोल रहा हूँ।

मैं - बोलो बेटा।

जमील - मैम, मेरा नाम जमील है, मैं वही हूँ जिसने एक बार आपको डायरी दी थी।

मैं - हां, मुझे याद है।

जमील - मैम, मुझे स्कूल छोड़ना पड़ रहा है।

मैं - क्यों, बच्चे?

जमील - फैमिली को बिहार जाना पड़ रहा है। हम लोग किराया नहीं दे पाए तो मकान मालिक ने निकाल दिया। मैम, मेरा दसवीं का सर्टिफ़िकेट (Certificate) और सारी क्लासों का रिज़ल्ट अपने पास रख लिया। क्या मैम, स्कूल से दूसरा सर्टिफ़िकेट मिल सकता है?

मैं - कोशिश करेंगे कि सीबीएसई (CBSE) से दूसरा निकल आए। लेकिन बेटा स्कूल न छोड़ो। फैमिली अगर जा भी रही है तो क्या तुम यहां नहीं रुक सकते? कितना किराया चढ़ गया है?

जमील - मैम, तीन-साढ़े तीन, चार महीने का 50,000 रुपये। असल में (डायरी का) काम तो साल में तीन महीने ही चलता है। अब नवम्बर से शुरू होगा। जनवरी तक किराया दे सकते हैं लेकिन वह मान ही नहीं रहा है।

मैं - फिर भी बच्चे कोशिश तो करो। किसी रिश्तेदार के पास रह जाओ। थोड़ा बहुत काम तो करते ही होंगे। काम चल जाएगा। स्कूल में तो हम फ़ीस वगैरा सब माफ़ करवा देंगे। यूनिफ़ार्म किताबें भी दिलवा देंगे।

जमील - मैम, वह हमें धमकी भी दे रहा है कि किराया नहीं दिया तो तू मेरे साथ दो साल काम कर। कहीं भी रास्ते में पकड़ लेगा। स्कूल के पास ही उसका घर है। आते-जाते देख सकता है।

मैं - चलो बेटा, फिर भी सोच लेना। मैं सर्टिफ़िकेट का तो बताती हूँ। सीबीएसई (CBSE) से दूसरा निकलवा लेंगे।

जमील - अच्छा मैम (फोन रख दिया) थोड़ी देर में दोबारा फोन आता है।

जमील - मैम, आपसे मिल सकते हैं क्या?

मैं - कब?

जमील - अभी।

मैं - तुम कहां हो, अभी कितनी देर में आ सकते हो।

जमील - अभी तो नबी करीम में हैं।

मैं - अच्छा आओ, मैं इन्तज़ार कर रही हूँ। जामिया आना पड़ेगा। जब पहुंच जाओ तो फ़ोन करके आगे का रास्ता पूछ लेना।

जमील और उसके वालिद दोनों एक घंटे के अंदर-अंदर मुझसे मिलने पहुंच गए। बातचीत के कुछ अंश यहां मौजूद हैं।

जमील के वालिद - मैम, पहले हम एक हिन्दू पंजाबी के यहां रहते थे। वह गुज़र गए तो एक-डेढ़ साल पहले इस घर में आना पड़ा। पिछले घर में मैं बारह साल रहा हूँ मैम। हम साल में एक बार एक साथ किराया देते थे। इतना भला आदमी था समझता था। कहता था, “मुझे पैसे की फ़िक्र नहीं है, तेरी है। इतनी मेहनत करेगा तो मर जाएगा। जा पहले बीवी बच्चों के पास (अपने वतन) होकर आ, पैसे फिर आ जाएंगे”।

उसने पूरा एक लाख रुपया छोड़ भी दिया था। असल में खुद ने जिन्दगी में मेहनत की थी तो मेहनत की क़दर जानता था। एक यह हैं, कहने को मुसलमान हैं, खून चूसते हैं। यहां, एक-एक सौ-सौ मुर्दे खाकर बैठा है। एक वह मुईन है, हाजी कहलाता है। स्कूल से लगी बिल्डिंग में पांच साल पहले कुछ तारों में आग लग गई थी। कम से कम 60-70 कारीगर मरे होंगे। रातों-रात उसने कूड़े का बड़ा ट्रक मंगवाकर सबको ठिकाने लगवा दिया।

में - क्यों पुलिस केस तो हुआ होगा?

वालिद - काहे का पुलिस केस? रातों-रात सब साफ़ हो गया। किसी को पता ही नहीं चला। पुलिस को पैसे खिला दिए। इसलिए मैडम हम लोगों को जाना तो होगा। क्या फ़ायदा मारपीट करे। बच्चे को पकड़ लेगा, अपने यहां काम करवाएगा, इसलिए इसे भी यहां नहीं छोड़ सकते। मैम, यह तीन-चार साल की उम्र से यहीं मेरे पास रहता है। (बच्चे की वालदा और बहने पहले बिहार में ही रहती थीं, उसे पढ़ाई की वजह से यहां ले आए थे)। मैं चाहता तो था कि यह कम से कम बारहवीं कर लेता। इसका सर्टिफ़िकेट तो मिल जाएगा न?

में - अगर हम इसका ट्रांसफ़र सोसाइटी के दूसरे स्कूल में कर दें तो? यह यहां हॉस्टल में रह लेगा। आपको फ़ीस वगैरा की भी फ़िक्र करने की ज़रूरत नहीं है, हम बन्दोबस्त कर लेंगे।

वालिद - चाहता तो मैं भी यही ही था।

मैंने सोसाइटी की सेक्ट्री और दूसरे स्कूल के मैनेजर को फ़ोन करके जमील के ट्रांसफ़र (Transfer) की इजाज़त ले ली।

वालिद - तो मैम, मैं अपने बच्चे को आपके हवाले करके जा रहा हूँ।

यह लोग बिहार में मधुबनी के पास एक गांव के रहने वाले हैं। वहां इनका अपना एक छोटा-सा घर है और थोड़ी-सी ज़मीन है जिसके भरोसे गुज़र-बसर मुश्किल नहीं बल्कि नामुमकिन है। जमील की पांच बहनें हैं और वह अकेला भाई है। पिछले साल उसकी एक बहन की शादी हुई है, जिस वजह से एक-डेढ़ लाख रुपये कर्जा भी लेना पड़ा। इसलिए, और ज़्यादा तंगी का सामना करना पड़ रहा है। जमील के वालिद तक़रीबन अठारह साल पहले दिल्ली आए थे। बारह साल तो कुछ ज़्यादा ही तंगी और बदहाली में गुज़रे। फिर भी जमील को पढ़ाने के अरमान से दिल्ली ले आए। वह शुरू से ही डायरी बनाने के काम में जुटे हैं। पहले एक कारख़ाने में मज़दूरी की, फिर खुद से ठेके पर काम लिया। कभी खुशहाली नहीं रही। सिवाय एक बार के। एक बार सीडी के कवर बनाने का काम मिला था। यह कवर कुछ डायरी के कवर ही की तरह चमड़े के बनते थे। “माला-माल” फिल्म की सीडी के कवर बनाने ने इन्हें “माला-माल” कर दिया। एक-डेढ़ महीने में ही डेढ़ लाख रुपया कमाया था। तब गांव के घर की मरम्मत का काम भी करवाया था। लेकिन फिर वैसा काम नहीं मिला। जमील पढ़ाई के साथ-साथ काम भी करता रहा है। आजकल एक मोबाइल की दुकान पर दोपहर दो बजे से रात के दस बजे तक काम करता है। ग्राहकों के लिए कम्प्यूटर से मोबाइल फ़ोन में गाने डाउनलोड करने का काम है। एक दिन में रुपये 400 से लेकर 800 तक मिल जाते हैं। आधी रक़म दुकानदार को देनी होती है और आधी उसकी होती है।

उसके वालिद का इरादा है कि गांव जाकर अप्रैल तक का वक़्त किसी तरह गुज़ारेंगे। अप्रैल-मई में काफ़ी लोग कमाई करके गांव लौटते हैं। तब शायद उनकी छोटी-सी ज़मीन बिक पाएगी। तब मकान मालिक का कर्जा उतारकर वापस दिल्ली आकर जिन्दगी शुरू करने की कोशिश होगी।

हाल में जमील से बात हुई। कहता तो है कि पढ़ाई ठीक चल रही है। मेरे यह कहने पर कि “अच्छे नम्बर आ जाएं तो कॉलेज में पढ़ना”, एक अफ़सुरदा-सी आवाज़ आई। कहा, “मैम बहुत मुश्किल है, अब्बा इतना अकेले कैसे कर पाएंगे, आगे का तो नहीं कह सकते”।

खुदा की राह और रोज़गार

मुतुर्जा अब नवीं जमात में हैं। जब वह आठवीं में थे तब मैंने इनकी सामाजिक विज्ञान की किताब का एक सबक इनकी कक्षा को पढ़ाया था। तब ही से इनसे अच्छी मुलाकात है। जब-जब स्कूल में मुझे देखते हैं तो दौड़कर खैरियत पूछने चले आते हैं। मुझे मेरा वादा भी याद दिलाते हैं कि आइन्दा भी इनकी क्लास को पढ़ाऊंगी। लेकिन फिर मौका ही नहीं मिल पाया है, क्या करूं।

मुतुर्जा बिहार के अरेरा ज़िले के रहने वाले हैं। दिल्ली में बड़े भाई के पास रहते हैं। भाई मुअज़्ज़िन है (यानी मस्जिद में पांच वक़्त की आज़ान देने का नेक काम करते हैं)। उन्हें मस्जिद में ही कमरा रहने के लिए मिला हुआ है। एक छोटे से कमरे में मुतुर्जा के दो बड़े भाई और दो भतीजे रहते हैं। घर की औरतें और बुजुर्ग गांव में ही रहते हैं। एक भतीजा मुतुर्जा का हमजमात है और दूसरा अभी प्राइमरी स्कूल में पढ़ता है। क्योंकि भाई मुअज़्ज़िन हैं तो रिहाइश की जगह के अलावा खाने की भी आसानी है। खाना मोहल्ले के घरों से बारी-बारी आ जाता है और सब मिलकर खा लेते हैं।

मुतुर्जा मियां के दादा और वालिद भी मौलवी रहे हैं। वालिद ने कुछ दिन दिल्ली में इसी इलाके में इमामत की है। वापस बिहार जाकर अपना मदरसा कायम करने की कोशिश में थे और पक्का घर बनवा रहे थे। उस दौरान छत से गिरने की वजह से माजूर हो गए। लेकिन उनके यहां काम करने से बेटों के लिए रास्ते ज़रूर खुल गए। बड़ा बेटा यहां मुअज़्ज़िन बना तो उसने और भाइयों को भी बुला लिया। उन्होंने ही मुतुर्जा को पढ़ाई की खातिर दिल्ली बुलाया। बिहार में मुतुर्जा मदरसे में पढ़ रहे थे। दिल्ली आने के बाद प्राइमरी, मदरसा हिदायतुल-इस्लाम से पास की। छठी में हमारे स्कूल में दाखिला ले लिया।

मुतुर्जा पढ़ाई में बहुत अच्छे हैं। सभी टीचर इन्हें जानते हैं। उर्दू खासतौर से बहुत उम्दा लिखते हैं। मुतुर्जा की क्लास टीचर ने एक बार बताया कि जब मुतुर्जा छठी जमात में स्कूल आए थे तब फ़ीस नियमित तौर से देते थे। सातवीं में अचानक फ़ीस आना बन्द हो गई जबकि उनके सगे भतीजे अबदुर्रहमान की नियमित रूप से आती थी। उन्होंने बड़े भाई को बुलाकर पूछा तो पता चला कि परिवार में ज़िम्मेदारियां बंटी हुई हैं। पिछले साल यानी छठी की फ़ीस मुअज़्ज़िन साहब की ज़िम्मेदारी थी जो उन्होंने भर दी। इस साल की ज़िम्मेदारी उनसे छोटे भाई की थी। वह सदर में बिंदी बनाने का काम करते हैं। तंगी की वजह से फ़ीस नहीं भर पाए जो स्कूल ने माफ़ कर दी।

इसके बाद हमारे मुतुर्जा खुद “बड़े” हो गए। या यूं कहिये कि होना पड़ा। आठवीं क्लास से अपना खर्चा खुद उठाते हैं और बड़े फ़ख़ से बताते भी हैं, “मैम, मैं तो अपना पूरा खर्चा खुद उठाता हूं”। रहना और खाना तो भाई के साथ हो ही जाता है। खर्चे में शामिल है, स्कूल की मामूली फ़ीस, ट्यूशन के पैसे और कम्प्यूटर कोर्स का खर्चा। इनके अलावा भी कुछ छोटे-मोटे रोज़मर्रा के खर्चे निकल ही आते हैं। हमारे मुतुर्जा तकरीबन ढाई हज़ार रुपये माहवार तो कमा ही लेते हैं। कैसे? वह इस तरह कि स्कूल से वापिस जाते में दो कारख़ानों में बरकत के लिए कलाम पाक पढ़ते हैं। एक कारख़ाने से अल्लाह का नाम लेने के उन्हें पांच सौ रुपये मिलते हैं। कमरे पर पहुंचकर खाना खाने के बाद कम्प्यूटर कोर्स के लिए चले जाते हैं। वहां महीने की छः सौ रुपये फ़ीस देते हैं। वापस आकर वह खुद ट्यूशन पढ़ाने जाते हैं। एक-दो घरों में बच्चों को कुरान पढ़ाने का नेक काम करते हैं। वापस आकर खुद हाफ़िज़ा करने में और स्कूल की पढ़ाई करने में कुछ वक़्त जाता है। फिर रात का खाना, इशा की नमाज़ और सोना।

एक साल पहले तक तो कहते थे कि इन्जीनियर बनना चाहते हैं, अब टीचर बनने का शौक़ बताते हैं। अपनी मस्रूफ़ियत की ज़िन्दगी से खेलने का टाइम भी हफ़्ते में एक दिन तो निकाल ही लेते हैं। घर यानी मां के पास बिहार जाना भी कई-कई साल में हो पाता है। अब वह ललक भी कम हो गई है। फ़ोन पर तो बात हो ही जाती है।

स्कूल छोड़ना ही पड़ा

नईम ने दो बार सालाना जलसे में नाटक में भाग लिया। क्योंकि नाटक तैयार करवाने में मेरी हिस्सेदारी रहती है, इसलिए भाग ले रहे बच्चों से अच्छी बातचीत का मौका मिलता है। यह लिखते हुए भी मुझे तकलीफ का एहसास हो रहा है, लेकिन जब पहली बार नईम मुझसे मिला तो बार-बार मेरी नज़रें उसके जूतों की तरफ़ चली जाती थीं। मैंने इतने फटे हुए जूते आज तक किसी के नहीं देखे थे। पता नहीं यह बच्चा उन्हें कैसे पहन पा रहा था। कई बार महसूस हुआ कि नईम ने मेरी नज़रें अपने जूतों की तरफ़ जाती हुई देख लीं और मैं शर्मिंदा हो गई। तब नईम ग्यारहवीं कक्षा में विज्ञान पढ़ रहा था। एक दिन उससे हुई बातचीत यहां पेश है:-

मैं - पढ़ाई कैसी चल रही है?

नईम - मैम, अच्छी चल रही है।

मैं - बारहवीं के बाद क्या करोगे, नईम?

नईम - मैम, पापा ने पता किया है, बारहवीं के बाद एक फ़ारमैसी का डिप्लोमा होता है, वह ही करेंगे। उसके बाद दवाओं की दुकान में या दवा बनाने के कारख़ाने में अच्छी नौकरी मिल जाती है।

मैं - चलो, वेरी गुड (very good)। तुम क्या किसी कारख़ाने में काम करते हो नईम?

नईम - नहीं मैम, हमारा अपना कारख़ाना है। उसी में पापा का हाथ बंटाते हैं।

मैं - किस चीज़ का कारख़ाना है?

नईम - पर्स बनाने का और बैग भी बनते हैं।

मैं - घर ही में चलता है या फिर अलग से?

नईम - नहीं मैम, घर अलग है और वर्कशॉप अलग है। घर पहुंचकर खाना खाकर कुछ देर के लिए चले जाते हैं।

नईम ने कुछ इस अंदाज़ से, “हमारा अपना कारख़ाना है”, कहा था कि लगा मुझ पर घड़ों पानी पड़ गया हो। सोचती रही कि पता नहीं बच्चे को कैसा महसूस हुआ होगा कि मैं उसके सामाजिक-आर्थिक स्तर को “हकीक़त” से कम समझ रही हूँ। अक्सर स्कूल में नईम मियां से बातचीत हो जाती थी। एक दिन पता चला कि उन्होंने बैतबाज़ी मुक़ाबले में, जिसमें काफ़ी स्कूलों ने शिरकत की थी, लैपटॉप जीता है। बहुत खुशी से उन्होंने यह ख़बर मुझे सुनाई। एक और दिन की बात है, मैं ऑफ़िस में बैठी थी। तब ही वह प्रिंसिपल साहब के पास अर्ज़ी लेकर आए। आधी छुट्टी में घर जाना चाहते थे क्योंकि पेट में दर्द था। प्रिंसिपल साहब ने जाने की इजाज़त दे दी। बाद में बातचीत करने पर पता चला कि बहाना था। असल में माल जाना था और काफ़ी काम बाक़ी था। नईम ने संजीदगी से बताया, “मैम, क्या करें, यह तो करना पड़ता है। कई बार अचानक काम आ जाता है। अगले दिन माल जाना होता है तो कोई न कोई बहाना बनाकर जाना होता है या फिर छुट्टी लेनी पड़ जाती है।” यह सुनकर मैंने कहा भी, “साईंस पढ़ना तो ऐसे मुश्किल हो जाएगा।” बोला, “नहीं मैम, कर लेंगे।”

कई महीने बाद, एक दिन मैंने कीमियात के टीचर से पूछा, “नईम, कैसा कर रहा है?” वह पहचान नहीं पाए, बोले, “बारहवीं में तो कोई नईम नहीं है।” मैंने कहा, “बिलकुल है”। इतने में फिज़िक्स (Physics) के टीचर वहां आ गए। उनसे भी मैंने यह ही सवाल किया। पहले तो पहचाने नहीं, फिर सोचकर बोले, “वह ग्यारहवीं में फ़ेल हो गया था, उसने स्कूल छोड़ दिया”। मैंने प्रिंसिपल साहब से फ़ोन नम्बर लिया। पूछा, “स्कूल क्यों छोड़ दिया, मेरे बच्चे? अगर साइंस नहीं चला पा रहे थे तो आर्ट्स पढ़ लेते”। काफ़ी देर सुनता रहा फिर बोला, “मैम, पढ़ना तो चाहते हैं, लेकिन हो नहीं पा रहा है। पहले भी एक बार फ़ेल हुए हैं। अब दुबारा हो गए तो पापा ने कहा कि बाद में प्राइवेट से कर लेना। कारख़ाने में किसी को काम पर रखना पड़ता, इससे अच्छा है हम ही कर लें। किसी और को सात-आठ हज़ार रुपये देने से अच्छा है कि हम खुद ही काम कर लें।” मैंने बहुत कहा कि स्कूल के साथ काम भी कर लो। अगर

विज्ञान मुश्किल पड़ रहा तो छोड़ दो कुछ और पढ़ लो। मेरे ज़्यादा इस्सर करने पर उसने कहा कि अपने वालिद से पूछ कर बताएगा। अगले दिन जब उसका फ़ोन नहीं आया तो मैंने किया। कहा, “नहीं मैम, मुश्किल होगा नहीं कर पाएंगे। इतना कहकर फ़ोन रख दिया”।

नईम के परिवार का ताल्लुक उत्तर प्रदेश के ज़िले बिजनौर से है। उसके वालिद दस-पंद्रह साल पहले दिल्ली आए थे। अब एक कमरे का घर उनकी मिलकियत है। परदेश में सर पर अपनी छत होना ही बड़ी बात है। किराए पर एक जगह ले रखी है जहां पर्स और बैग बनाने का कारखाना चलता है। इसमें नईम, के वालिद, भाई, नईम के अलावा एक-दो और मज़दूर काम करते हैं।

इस साल सालाना जलसे की तैयारी के दौरान एक बच्चा दौड़ता हुआ मेरे पास आया और बताया कि वह नईम का रिश्ते का भाई है। साथ ही पूछा, “मैम, नईम भाई ऐनवल डे के लिए आना चाहते हैं। उन्होंने कहा था कि मैम से पूछ लेना”। मैंने कहा, “ज़रूर आएंगे, जलसा भी देखें और मुझसे भी मिलें”। ऐनवल-डे (Annual Day) के बाद जब नईम मुझसे मिले तो कुछ चुप-चुप से थे। बजाय इसके कि मैं हिम्मत दिलाती, पूछने पर, मुझे इत्मिनान दिलाया, “मैम, आगे की पढ़ाई ओपन स्कूल से कर लेंगे। फिर आगे देखते हैं क्या कर पाते हैं”। उसकी आंखें लेकिन कह रही थीं, “मैम, आपके ख़ाब कीमती हैं, साकार भी होते ही हैं”, शायद उन्हीं ख़ाबों में मैं भी कहीं कुछ पा जाऊं। ख़ाब देखती रहिए। मैंने तो कब के देखने छोड़ दिए हैं।”

बदलते हालात बदलते ख़ाब

ऐजाज़ से मेरी मुलाकात तीन-चार साल पहले जब स्कूल में हुई तब वह आठवीं जमात में था। उस वक़्त वह प्रिंटिंग प्रेस का काम काफ़ी हद तक सीख चुका था। एक साल में रंग मिलाना, मशीन में लोड करना और कागज़ को हिसाब से काटना, डालना सब सीख लिया था। एक साल के अन्दर ही पांच सौ रुपये से शुरुआत करके अब चार हज़ार रुपये माहवार कमा रहा था। स्कूल से जाने के बाद दो बजे से रात नौ बजे तक प्रिंटिंग प्रेस में काम करना और कई बार (उसकी ज़बान में कहें तो) “नाइट भी लगाना”। यानी ओवरटाइम करने से, “चार पैसे ज़्यादा मिल जाते हैं, घर का खर्चा निकल आता है।” लेकिन जब प्रेस से ढाई-तीन बजे घर पहुंचकर सो पाता था तो लाज़मी है कि सुबह सात बजे स्कूल पहुंचने में देर तो हो ही जाएगी। कई बार काम ज़्यादा होने पर स्कूल गोल करना भी पड़ जाता था। मेरे यह कहने पर कि, बेटा, इतनी मेहनत करते हो, क्या पढ़ने-बनने का इरादा है, तब उसने तपाक से कहा था, “मैम हिम्मत तो बहुत है, आपकी दुआ रही तो इन्जीनियर बनेंगे।”

हिम्मत की तो वाकई कमी नहीं थी। पिछले तीन-चार साल की जद्दोजहद उसकी मेहनत, मशक्कत और हिम्मत की कहानी बयान करती है। वह पांचवीं क्लास में ही था जब उसके पिता की परचून की दुकान ठप हो गई। कुछ नहीं बन पड़ा तो वह ऐजाज़ की मां और बहन-भाइयों को छोड़-छाड़कर वापस अपने वतन बिहार चले गए। वहां उनकी पहली पत्नी और बच्चे रहते हैं। ऐजाज़ के दो सगे भाई और बहन हैं। ऐजाज़ का बड़ा भाई उसी दौरान बम्बई चला गया था तो ज़िम्मेदारी दस-ग्यारह साल के ऐजाज़ पर आ गई। यह पूछने पर कि बड़ा भाई बम्बई में क्या काम करता था, ऐजाज़ ने बताया, “मैम, वह टपोरी बन गया था और ज़री का काम भी करता था। “मतलब था कि जुगाड़ से या हाथ-साफ़ करके गुज़र-बसर करता था। इन सब वजहों से पांचवीं क्लास में ऐजाज़ को स्कूल भी छोड़ना पड़ गया था। उस वक़्त वह लोग क़साबपुरे इलाक़े में रहते थे, जहां गोश्त का काम ज़्यादा होता है। ऐजाज़ भी इस काम में लग गया और उसे मुर्गे और चिकन की बोटियां बनाने के दिन के पचास रुपये मिलते थे। घर चलाने की पूरी ज़िम्मेदारी वह और उसकी मां मिलकर उठा लेते थे। उस वक़्त बहन सलमा और छोटा भाई इरफ़ान स्कूल में पढ़ रहे थे। मां और सलमा मिलकर घर में पैकिंग का काम या बटन लगाने का काम करते थे। इसमें भी कई बार ऐजाज़ हाथ बंटाता था। किसी तरह मिलजुलकर किराए के पैसे और घर का खर्च निकल ही आता था। हमारे ऐजाज़ मियां को जब आमदनी बढ़ती हुई महसूस नहीं हुई तो उन्होंने, गोश्त का काम छोड़ कर प्रिंटिंग प्रेस का काम पकड़ लिया। साथ ही दोबारा स्कूल भी आने लगे। प्रेस से महीने के पांच हज़ार रुपये तक मिलने लगे थे। दसवीं का इम्तिहान

जैसे-तैसे दिया। 52 प्रतिशत नम्बर पाने पर ऐजाज़ तो फूला नहीं समाया। बाज़ी मार लेने जैसा लगा। था भी। लेकिन इतने नम्बर पर साईंस तो मिल नहीं सकती थी। सलमा बाजी ने साईंस छोड़ने और नए ख़्वाब बुनने की हिम्मत दी। अब ऐजाज़ कॉमर्स पढ़कर, सीए (CA) बनने के ख़्वाब देखने लगा। सलमा ने खुद बाहरवीं में कॉमर्स पढ़ा था और अब (Correspondence) से बीकॉम (B.Com) कर रही थी। लेकिन शिक्षा मकहमे के आदेश के तहत सिर्फ़ उन बच्चों कॉमर्स दी गई जिनके साठ फ़ीसदी से ज़्यादा नम्बर थे। ऐजाज़ ने मुझसे भी सिफ़ारिश की लेकिन कुछ हो नहीं पाया। बावन (52) फ़ीसदी नम्बर आने की खुशी और ख़्वाब सब चकनाचूर हो गए।

अभी चंद महीने पहले ऐजाज़ से फिर मुलाकात हुई। मैंने पूछा, “प्रिंटिंग का काम कैसा चल रहा है?” बताया, “अरे मैम, आपको बता नहीं सका, वह काम तो कब का छोड़ दिया। अब तो कम्प्यूटर हार्डवेयर का काम सीख रहा हूँ, साथ ही कैमरा लगाने का काम भी करता हूँ। प्रिंटिंग के काम में और ज़्यादा आमदनी बढ़ने की उम्मीद नहीं थी न।” पूछा यह कैमरा लगाने से क्या मतलब हुआ। कहा, “बड़े-बड़े होटल, दुकानों, ऑफ़िस और बंगलों पर भी हिफ़ाज़त के लिए आजकल कैमरे लगाए जाते हैं न, आजकल वह ही काम सीख रहा हूँ”। आमदनी पूछने पर हंसा और कहा, “अभी तो कुछ खास नहीं मिल रहा है, लेकिन एक बार काम सीख लूंगा तो अच्छी आमदनी हो जाएगी”। काम सीखने का मौक़ा भी है। आजकल घर के हालात क़दरे बेहतर हैं। बड़ा भाई घर लौट आया है। उसने वालिद की मदद से, कुछ जोड़-तोड़ करके लैमिनेशन की मशीन लगा ली है। छोटा भाई इरफ़ान भी स्कूल से आने के बाद मशीन पर कुछ देर काम कर लेता है। कमरे का किराया देने के बाद, काम के हिसाब से 10-15 हजार रुपये बच जाते हैं। सलमा को भी डीटीपी के काम से छः हजार रुपये मिल जाते हैं। अम्मी भी पैकिंग का काम करके महीने के कई हजार रुपये कमा लेती है। यह काम पीस के हिसाब से होता है। यानी जितनी टी-शर्ट पैक करो उतने ही पैसे मिलेंगे।

पढ़ाई के बारे में पूछने पर अब ऐजाज़ एक खिसयाई-सी हंसी हंस देता है। नहीं, हिम्मत तो नहीं हारा है, बस बड़ा और समझदार हो गया है। कोशिश तो हालात के हिसाब से जारी है, आगे का तसव्वुर बेकार है। धीरे-धीरे छोटे से एक बड़े बाज़ार का हिस्सा या पुर्जा तो बन ही रहा है। अब तो तालीम की उम्मीद उसकी अम्मी को भी बस इरफ़ान से है। मुझसे कहने लगीं, “मैंने अपने इन तीनों बच्चों से कह रखा है, मेरे इरफ़ान को इंजीनियर बना दो चाहे तुम्हें जितनी मेहनत करनी पड़े।” मैंने बस धीरे से सर हिला दिया। कुछ कहने की हिम्मत नहीं हुई। इरफ़ान भी ऐजाज़ ही के साथ हमारे यहां ग्यारहवीं आर्ट्स का तालिबे इल्म है।

इरादे भी है और हिम्मत भी... राह निकल ही आएगी

शाहनवाज़ बिहार के परसन्दी गांव के रहने वाले हैं। गांव में क्योंकि सिर्फ़ एक ही सीनियर सैकण्डरी स्कूल था, वह भी काफ़ी दूर था, इसलिए सन 2006 में यानी चौथी क्लास में वह दिल्ली आ गया। यहां पर वह अपने चच्चा के साथ रहता है जिनका बस्ते और बैग बनाने का कारख़ाना है। खाना बनाने, कपड़े धोने जैसे घरेलू काम ज़रूर शाहनवाज़ के जिम्मे हैं लेकिन उसे कारख़ाने के काम में हाथ बंटाने की ज़रूरत नहीं पड़ती है। गांव के कई मज़दूर कारख़ाने में ही रहकर काम संभाल लेते हैं। उसके वालिद-वालिदा और दो बहनें गांव में ही रहती हैं। वालिद साल में कुछ महीनों के लिए दिल्ली आ जाते हैं। यह वह वक़्त होता है जब उसके खेतों में बुवाई और कटाई के काम का ज़ोर नहीं होता है। अम्मी से मिले हुए तो कई-कई साल गुज़र जाते हैं।

शाहनवाज़ से मेरी मुलाकात तारीख़ के क्लब में हुई थी। स्कूल में हमने बच्चों के साथ मिलकर मौहल्ले और स्कूल की तारीख़ लिखने का काम शुरू किया था। यह क्लब तो नहीं चल पाया लेकिन इस दौरान यह एहसास ज़रूर हुआ कि काफ़ी बच्चे हैं, खासतौर से बिहार के, जो हिन्दी-उर्दू में अच्छी अभिव्यक्ति कर पाते हैं। उन्हीं में से हमारे शाहनवाज़ एक हैं। उन्हें खुद इस बात का एहसास भी है कि तमीज़-तहज़ीब में और ज़बान में “बाहर” से आए बच्चे बेहतर हैं। कहना है, “मैम यहां के बच्चे तो बस ऐसे ही हैं। न पढ़ना-लिखना चाहते हैं, न किसी बात की फ़िक्र है। ऐसी-ऐसी गाली देते हैं कि नज़रें नीची हो जाती हैं। जो पढ़ना चाहते हैं, उन्हें भी नहीं पढ़ने देते हैं। स्कूल आकर बस इधर-उधर घूमना, हंगामा करना। टीचर्स को पढ़ाने ही नहीं देते।”

शाहनवाज़, हमारे बहुत संजीदा किस्म के हैं। यह तय कर चुके हैं कि दिल्ली आए हैं तो कुछ न कुछ तो करना है, आगे बढ़ना है। अभी ग्यारहवीं की शुरुआत में फ़ोन आया, “मैम, हमारे टेन्थ में अच्छे नम्बर थे, 7.3 सी जी पी ए (C G P A) स्कोर था। नम्बर मैनेटेन नहीं रह पाएंगे, मैथ्स टीचर का कुछ कीजिए। वैसे भी दो क्लासों को मिला दिया गया है। हिन्दी सेक्शन वाले बच्चे बहुत बिगड़े हुए हैं, पढ़ने नहीं देते हैं।” यह वही शाहनवाज़ हैं जिनका फ़ोन देखकर मैं डर जाती थी। इस बारे में मैंने पिछले एक लेख में लिखा भी है। जब तक टीचर का इनतेज़ाम नहीं हो गया वह दिन में कई बार तिकतिका देते थे।

शाहनवाज़ को दिल्ली ने जहां मां के आंचल से दूर रखा वहीं काफ़ी खुदमुखतार और दूरचश्मी भी बना दिया है। पसीने की कमाई की कीमत भी ख़ूब जानते हैं। बारहवीं की विज्ञान की पढ़ाई कहां आसान है। जैसे-तैसे एक कोचिंग सेंटर भी जा रहे हैं। यह उन्होंने काफ़ी सारे ट्यूशन सेंटर देखने-परखने के बाद खुद तय किया। अपनी-सी पुरज़ोर कोशिश है कि अच्छे नम्बर पा जाएं। आगे इंजीनियरिंग करने का इरादा है। स्कूल को भी इनसे काफ़ी उम्मीदें हैं। जबकि यह स्कूल से ख़फ़ा रहते हैं। कहना है, “कहां अच्छी पढ़ाई होती है। वह कैमिस्ट्री के सर हैं, थोड़ा पढ़ा दिया बाकी कह देते हैं अपने आप पढ़ लो। मैथ्स की मैम टीजीटी हैं और बारहवीं को पढ़ा रही हैं। कोशिश तो करती हैं लेकिन उतना अच्छा नहीं पढ़ा पाती हैं।” कई बार इन्हें यह भी ख़्याल आता है कि विज्ञान की बजाय भाषा या आर्ट्स पढ़ते तो शायद इनके लिए बेहतर रहता। शिकायत है, “कोई बताने वाला, गाइड करने वाला नहीं था”।

मेरी कहानी मेरी ज़बानी

अफ़जल हमारे स्कूल में नवीं जमात में पढ़ते हैं। वह दरभंगा के रहने वाले हैं। उनकी कहानी उन्हीं की ज़बानी यहां पेश है।

“गांव में कहां कुछ मिलता है, मदरसे जाते थे, शौचालय भी नहीं था। खेती में ज़्यादा पैसा भी नहीं आता था। इसलिए नौ साल पहले अब्बू मुझे लेकर दिल्ली आ गए। मुझे ठीक से याद नहीं है, मैं बहुत छोटा था पहली से मैं इस स्कूल में पढ़ रहा हूं। यहां, दिल्ली में तो कोई (रिश्तेदार) नहीं रहता, गांव में दादा-दादी, चाचा और दो चाचियां रहती हैं। दूसरे वाले चाचा दुबई में रहते हैं, वो वहां गाड़ी चलाते हैं, ड्राइवर हैं। दूसरी वाली चाची उनकी वाइफ़ (Wife) हैं। गांव में खेत तो है पर उसे किराए में दिया हुआ है, सब्जियां वगैरा लगाई हुई हैं। उसको बेचकर जो पैसा आता है उससे खर्चा निकल जाता है। अब्बू पैसा भेज देते हैं। चार-पांच साल में गांव जाते हैं ट्रेन से, ग़रीब रथ, से जाते हैं। पिछले साल ही गए थे शादी थी, पर दस दिन में वापस आ गए।

हमारा कारख़ाना है, गली टंकी वाली में। सात बजे कारख़ाना खुल जाता है। अब्बू सारा काम करते हैं। एक कारीगर है। कारख़ाने में डायरी का कवर, पर्स का हिस्सा, बैल्ट पर छपाई, सनग्लासेज़ (Sunglasses) का कवर, एमटीएम कवर बनता है। मैं और (बड़े) भाई पैकिंग में मदद करते हैं। अब्बू डायरी का कवर, बैल्ट पर छपाई, ये सारे काम नहीं करवाते, सिर्फ़ पैकिंग में मदद करते हैं। कारख़ाना दो मंज़िला है, ऊपर काम होता है और नीचे पैकिंग। घर का किराया चार हज़ार और कारख़ाने का तीन हज़ार। साथ में बिजली का खर्च। घर का खर्च और बाकी चीज़ों का खर्च निकल आता है, पर फ़ीस देने में देरी हो जाती है।

(अपने नहीं बाकी कारख़ानों की बात करते हुए) छापा पड़ता है कारख़ानों में। इस बार तो मीडिया के साथ पुलिस वाले आए गए थे। एक लाख का जुर्माना है, मैनेजर जिसका कारख़ाना है कोर्ट में पेशी होती है। लेकिन अगर जुर्माना भर दिया तो कोर्ट तक जाने की ज़रूरत नहीं। छोटे-मोटे पुलिस वाले वसूली करते हैं। छापा पड़ने से पहले पुलिस वाले फ़ोन करके बता देते हैं कि आज छापा पड़ने वाला है, इतने बजे। इस बार एकदम से आ गए थे। एक बैग के कारख़ाने से तो चौदह बच्चे पकड़े गए।

अम्मी घर का काम करती हैं, हाउज़ वाइफ़ हैं। छोटी बहन उनकी मदद कर देती है। छोटे भाई कुछ नहीं करते क्योंकि अभी वो छोटे हैं, थोड़े बड़े हो जाएंगे तो वो भी कारख़ाने में हाथ बटाने लगेंगे। अम्मी पहले गांव से दिल्ली आती

रहती थी, दो एक महीने रहती थीं, फिर चली जाती थीं। बहन यहां आई, इसलिए अम्मी भी यहां आ गई। बहन है इसलिए अम्मी यहां रहती है। अब 6-7 साल हो गए हैं। मेरी छोटी बहन पढ़ाई में बहुत अच्छी है। नम्बर भी उसके अच्छे आते हैं। दोनों छोटे भाई यहीं पर हुए हैं।

मैं छः बजे उठता हूं, नमाज़ पढ़ता हूं फिर स्कूल आ जाता हूं। यहां साढ़े बारह बजे तक रहता हूं। स्कूल में पढ़ाई करता हूं, खेलता हूं। पहले ये स्कूल इतना अच्छा नहीं था, टीचर पढ़ाते ही नहीं थे। मैं आता था और खेलकर चला जाता था, बिलकुल कोई पढ़ाई नहीं होती थी, टीचर भी कुछ करवाते नहीं थे। अब स्कूल बहुत बदल गया है, कम से कम कुछ टीचर पढ़ाते तो हैं। जब से ये वाले प्रिंसिपल आए हैं काफी सुधार आया है। डंडे तो पड़ते हैं कुछ टीचर तो ऐसे मारते हैं कि मैं क्या बताऊं। मैं थोड़ा ऐसे ही हूं, बदमाश हूं काफी ज़्यादा। पहले बदमाश नहीं थे, पर इस स्कूल में आकर हो गए हैं। पहले मैं पीछे बैठता था दोस्तों के साथ, टीचर ने आगे बिठा दिया। दोस्तों को भी आगे बैठाया था पर वह फिर से पीछे चले गए। अब मुझे यहीं पर अच्छा लगता है। मुझे अपनी क्लास टीचर और ज़र्रीन मैम अच्छे लगते हैं क्योंकि वो अच्छा पढ़ाते हैं, कुछ पूछने पर डांटते नहीं हैं।

मेरे दोस्त हैं शाहिद, फ़हीम, शाहनवाज़, मेहबूब। मैम, मुझे पता है कि ये अच्छे नहीं हैं, इनकी संगति अच्छी नहीं है, पर मैं क्या करूं दोस्त तो दोस्त ही होते हैं। लड़कियों से मैं ज़्यादा बात नहीं करता, सिर्फ़ काम की बात पूछ लेता हूं। पिछले एग्जाम में 40 प्रतिशत के करीब नम्बर आए थे।

स्कूल से घर जाने के बाद खाना खाता हूं और थोड़ा सो जाता हूं। उठने के बाद कारखाने जाता हूं। कारखाने में छटाई और पैकिंग का काम करता हूं। भाई कभी-कभी कारखाने नहीं आते। वो पढ़ाई करते रहते हैं। भाई सारी रात पढ़ता है। मैं भी कारखाने नहीं जाऊंगा तो अब्बू को सारा काम करना पड़ेगा, अच्छा नहीं लगता न। अब्बू को हैल्प नहीं करूंगा तो कारखाना बंद भी हो सकता है, इसलिए मैं आ जाता हूं। शाम को आठ बजे वापस लौटता हूं। नमाज़ पढ़ने के बाद खाना खाता हूं। दो घंटे पढ़ाई करता हूं फिर सो जाता हूं।

मुझे बिज़नेसमैन बनना है। किस चीज़ का बिज़नेस करना है यह तो पता नहीं है। अब्बू कहते हैं कि जितना चाहे पढ़ो। पढ़ाई के लिए रोक-टोक नहीं है, छोटी बहन को भी मनाई नहीं है। जितना अब्बू के बस में होगा वो फ़ीस भर देंगे। अगर पैसा नहीं होगा तो जितना होगा उसी के हिसाब से पढ़ लेंगे। मुझे पढ़ना बहुत पसंद है। अब्बू और अम्मी दोनों सपोर्ट करते हैं आगे पढ़ने को लेकर। स्कूल से उम्मीद तो है कि मदद मिलेगी पर वह सिर्फ़ उसी को पैसे देते हैं जिनके वालिद नहीं हैं। पर जितना हो सके और जितना अब्बू के बस में हुआ मैं पढ़ूंगा।

रंगों का मिलन हैं फ़ज़ल

फ़ज़ल मियां से मेरी मुलाकात एक टीचर की शिकायत करने पर हुई। टीचर का कहना था, “बहुत बदतमीज़ बच्चा है, कोई बात नहीं मानता, मां-बाप को बुलाते हैं तो मीटिंग में लाता नहीं है”। तब वह ग्यारहवीं कक्षा में पढ़ते थे। एक दिन उनकी क्लास में टीचर मौजूद नहीं थी तो मैं क्लास में पहुंच गई। मैंने टीचर की शिकायत के बारे में जनाब से पूछा, “भई वालिदैन को क्यों नहीं बुलाते हो?” इन्तिहा ही अदब से वजह बताई। कहा, “मैम, कैसे बुलाऊं, मेरे वालिद रात को दो-ढाई बजे मण्डी जाते हैं। उन्हें खाना-वाना देने के बाद, फ़ज़िर की नमाज़ पढ़कर, अम्मी सो पाती हैं। अब सुबह जब नौ-दस बजे मीटिंग रखी जाएगी तो वह कैसे आ पाएंगी।” बात तो ठीक थी। इसके बाद फ़ज़ल ने इधर-उधर की ढेरों बातें मुझसे कीं। बात करने का अंदाज़ इतना जोश भरा, खूबसूरत और कायल करने वाला है कि आप हैरान रह जाएंगी। बाद में फ़ज़ल के नित नए रंग सामने आते रहे- शरारत, दबंगता, सदारत, मज़हबी होने, टीचर को आजिज़ करने, साथियों की मदद, लड़ाई और इख़तलाफ़ के- इन अनेकों रंगों का मिलाजुला नाम फ़ज़ल है।

प्रिंसिपल साहब ने एक दिन बताया, “बच्चा तो यह बहुत अच्छा है, एक दिन मुझे मदर डेरी पर मिल गया था, मुझे

पहचान गया कि- स्कूल का प्रिंसिपल हूँ, कहा, “मैं आगे पढ़ना चाहता हूँ।” मैंने सोचा कि इतना छोटा बच्चा अपने आप पढ़ने के लिए कह रहा है, तो मैं ले आया और इसका आठवीं क्लास में ऐडमिशन करवा दिया। हमारे फ़ज़ल मियां क़साबपुरे के एक क़दीमी परिवार से ताल्लुक़ रखते हैं। वालिद और तीनों भाई गोश्त के काम से जुड़े हैं। दूर-दूर तक ख़ानदान में कोई पढा-लिखा नहीं है बस उन्हीं को कहीं से शौक़ चढ़ आया। बीच में ख़ानदानी कारोबार पर आफ़त आई जब सरकारी आदेश पर क़साबपुरे और ईदगाह के इलाक़े से बन्द कर देना पड़ा। सारे क़साई-घर गाज़ीपुर मण्डी पहुंचा दिए गए। तब फ़ज़ल ने दवाओं की दुकान पर और अस्पताल में लगातार कई साल काम किया। कहते हैं कि फ़ारमेसी का पूरा काम जानते हैं। तब कई साल बीच में पढ़ाई भी छोड़नी पड़ी। स्कूल में ऐडमिशन लेने के बाद भी अपना ख़र्चा खुद ही चलाते रहे हैं। लेकिन अब काम अर्ज़ी नफ़ीसी का करते हैं। एक दिन बताया कि लोगों के पासपोर्ट फ़ार्म भरते हैं, वज़ीफ़ों की अर्ज़ी देना, ख़त लिखने वगैरा से पैसे कमा लेते हैं। स्कूल के साथियों पर भी मेहरबानी रही है। एक दिन मुझसे शिकायत की थी, “हमारे स्कूल को यहां तक मालूम नहीं था कि अल्पसंख्यक विभाग से बच्चों को स्कॉलरशिप मिलती है। मैम, मैंने ढेरों बच्चों के ऑन-लाइन फ़ार्म भरे और फिर अटेस्ट करवा के खुद आई. टी. ओ. पर दफ़्तर है वहां देकर आया। माशाअल्लाह बहुत बच्चों का फ़ायदा करवाया”। मुझे लगता तो नहीं है कि साथियों से कोई फ़ायदा कमाया। बल्कि एक दिन बता रहे थे कि किसी हिन्दू दोस्त ने कहा कि “मैं भी तो ज़रूरतमंद हूँ, सबको स्कॉलरशिप मिली, हमें नहीं”। इस पर फ़ज़ल मियां ने अपने वज़ीफ़े के आधे पैसे उसके साथ बांट लिए। बहुत से बच्चों के झूठे-सच्चे ओबीसी (OBC) सर्टिफ़िकेट भी बनवाए हैं। कहते हैं अब तो (SDM) एसडीएम के दफ़्तर में अच्छे ताल्लुक़ात भी हो गए हैं।

“नेकी” के मज़हबी रंग भी इनकी ख़ासियत हैं। स्कूल में लगातार तालीम में (जिसका ज़िक्र मैंने अपनी छठी किस्त में किया है) हिस्सा लेते रहे हैं। बल्कि यूं कहना चाहिए कि बच्चों को नेक काम के लिए इकट्ठा करना और नियमित रूप से मज़हबी तालीम करना इनके कारनामों में शामिल है। अब मज़हब की ग़लत-सही तरज़ुमानी तो हम सभी करते हैं सो वह भी करने का “हक़” रखते हैं। लड़के-लड़कियों के साथ पढ़ने के ख़िलाफ़ हैं। हाल में मिले थे तो कह रहे थे कि, “यह लड़कियों की शादी देर में होने की वजह से बड़ी ख़राबियां पैदा हो रही हैं। ऐसे-ऐसे कपड़े पहनती हैं कि देखकर शर्म आ जाए।”

स्कूल में साथियों का साथ देने और तालीम में हिस्सेदारी के अलावा अपनी शरारतों के लिए भी मशहूर रहे हैं। एक बार यह शुबह होने पर कि टीचर ने उनके मज़हब की और मुसलमानों की बुराई की है, उनका क्लास में पढ़ाना-पढ़ना मुश्किल कर दिया था। क्लास में आवाज़ें निकालना, अश्लील शब्द बोलना, क़हक़हे लगाना- सभी तरह परेशान किया। शरारतों के साथ नमाज़ और तालीम भी चलती रही है।

सदारत का फ़न तो लगता है इन्हें कुदरत ने बख़्शा है। साथियों को समझाना-बुझाना, भड़काना सभी करते रहे हैं। कई बार गुस्से के दायरे में जब स्कूल आ जाता था तो कम उम्र अध्यापकों को धमकी भी दे डालते थे, “यह स्कूल इतना पैसा कमाता है, सब जाता कहां है, एक आरटीआई डालूंगा तो सब सफ़ेद का सफ़ेद काले का काला हो जाएगा।” अब तो कॉलेज में आ गए हैं तो यह कारनामे अनजाम भी दे रहे हैं। हाल में बताया, “मैम, मैंने आरटीआई डाली थी कि हमसे किस बात की कम्प्यूटर फ़ीस ली जाती है, कॉलेज में कम्प्यूटर रूम में तो काम चल रहा है”। आजकल अपने इलाक़े के बच्चों की पढ़ाई की फ़िक्र भी है। बताया है एक और अर्ज़ी दे रखी है गवर्नर को कि उनके इलाक़े में अस्पताल खोला जाए। समाज को बदलने, संवारने की अपनी-सी कोशिश कर रहे हैं। कहते हैं, “मैम काम तो जारी है आप दुआ करती रहिए।” कुछ दोस्त हैं जो नेताओं की पैरवी करके आगे निकल गए हैं। कई सियासी मोहरा तो ज़रूर बन गए लेकिन खुद भी फ़ायदे में रहे, जिनका ज़िक्र अक्सर फ़ज़ल करते हैं। क्योंकि इस घनी आबादी वाले इलाक़े में वोट के चक्कर में सियासत गरमाई रहती है तो कभी-कभी डर लगता है कि फ़ज़ल मियां इसके दांवपेच के पुर्जे न बन जाएं। ख़्वाब है कि सिविल सर्विस में किसी तरह घुस जाएं। वालिद तो कहते हैं कि पढ़ाई-लिखाई से कोई फ़ायदा होने वाला नहीं है लेकिन हमारे फ़ज़ल डटे हुए हैं।

कुछ इनकी ज़बानी कुछ मेरी ज़बानी

“अबू का बॉक्स मेकिंग और सप्लाइ का काम है। ऑर्डर पर काम करते हैं। रैंगलर कम्पनी के लिए बाक्सेज़ बनाते हैं। तरह तरह के बाक्सेज़ (Boxes) बनाते हैं जैसे आर्टीफ़ीशियल ज्वेलरी के डिब्बे, ड्राई फ्रूट के डिब्बे। परदादा ने यह काम शुरू किया, फिर दादा, फिर अबू भी इसी काम में लग गए। भाई की खुद की दुकान है चिकन फ्राई की, वो उसी में लगे रहते हैं। अबू दो कारीगर के साथ सारा काम संभाल लेते हैं। महीने के 12-15 हज़ार बन जाते हैं।

स्कूल में पढ़ाई कहां होती है, जब देखो सब बच्चे बाहर खेलते रहते हैं। मुझे सिर्फ़ इलेक्ट्रीशन का काम ही पसन्द है। ग्यारह साल की उम्र से इलेक्ट्रीशन का काम कर रहा हूँ। आईटीआई या पूसा इन्स्टीट्यूट से इलेक्ट्रीशन का तीन साल का डिग्री कोर्स करना चाहता हूँ। अबू भी तैयार हैं। मुझे किसी और चीज़ से मतलब नहीं है, किसी तरह बस इलेक्ट्रीशन की डिग्री मिल जाए, अपने पैरों पर खड़ा हो जाऊँ फिर मज़े करूँगा। कल को लोग न कहें कि ये इनका बेटा है, लोग ये कहें कि वो बिलाल के अबू हैं। दुबई जाना चाहता हूँ, खुद चला जाऊँगा नहीं तो भाभी भेज देंगी। भाभी मेरे उस्ताद सैय्यद अफ़जल की बीवी हैं। उस्ताद अबू के दोस्त थे उन्हीं से मैंने काम सीखा है। अब उनका तो इन्तक़ाल हो गया है लेकिन अब भाभी दुकान संभालती हैं। दुबई इसीलिए जाना चाहता हूँ क्योंकि वहां का माहौल अच्छा है। बाकी दोस्त भी वहीं है। वहां कमाई भी अच्छी है और वहां से अम्मी अबू को सहारा भी हो जाएगा। सारे पैसे अम्मी को दे देता हूँ। एक कम्प्लेन्ट के 50 रुपये फ़िक्स्ड (Fixed) हैं। रोज़ के 100-150 तो हो ही जाते हैं। मूवी देखने में जाता नहीं, कोई बुरी आदत नहीं है। बुरी आदत जैसे ज़्यादा पैसे खर्च करना, स्मोकिंग करना, गुटका खाना।

मैं रोज़ पढ़ता नहीं हूँ। पढ़ना पसन्द नहीं है, बस इलेक्ट्रीशन के काम में इन्ट्रेस्ट है और मैं वही करता हूँ। यूनिट टेस्ट में मैं लगभग सारे सबजेक्ट्स में फ़ेल हूँ। बस एग्जाम से दो महीने पहले पढ़ता हूँ। उस वक़्त इलेक्ट्रीशन का काम नहीं करता, छोड़ देता हूँ, सिर्फ़ पढ़ाई में ध्यान देता हूँ। उस्ताद के दोस्त का एक फ़्लैट है वहां मोहसिन और बाकी दोस्तों के साथ ज्वाइंट स्टडी करता हूँ। पढ़ाई करते हैं, बातें करते हैं और चाय पीते हैं साथ में सब।”

यह तो हमारे बिलाल मियां की कहानी उन्हीं की ज़बानी थी। अब ग्यारहवीं में हैं। मैं कई साल से इनसे और इनकी शरारतों से वाकिफ़ हूँ। यह वही मियां हैं जो टीचर तक से अश्लील मज़ाक करते हुए नहीं घबराते हैं। हाल में मेरी एक जामिया की शागिर्द स्कूल रिसर्च के सिलसिले में गई तो वह भी “मज़ाक” का शिकार हुई उनसे पूछ बैठे, “आपको फ्रेंच किस (French Kiss) पता है क्या होती है?” अपनी क्लास की लड़कियों से दूरी भी है बल्कि वह ही इनसे और इनके साथियों से दूर रहना चाहती हैं। लेकिन मियां बिलाल को लड़कियों की हरकतों पर ऐतराज़ भी है। कहना है, “तीन लड़कियां तो हमारी क्लास में बहुत ख़राब हैं। स्कूल के सारे लड़कों से बात करती हैं, देखकर शर्म आती है”। भई, लड़कियों-औरतों को काबू में रखने का सबक जो परिवार और समाज ने सिखाया है स्कूल उसे भुलाने में पूरी तरह नाकाम है। बिलाल इसे अपनी “बुरी” आदतों में शामिल भी नहीं करते हैं।

बिलाल जैसे बहुत से बच्चों को देखकर लगता है कि हम सभी का अगर एक हिस्सा दला जाता है तो दूसरा औरों को दलने के लिए तैयार है। क्या कोई सिर्फ़ उत्पीड़ित है? बिलाल को कई बार मलाल होता है, “हमारा बचपन था ही नहीं, कब आया कब चला गया, पता ही नहीं चला”। सालों से सख्त काम करने की वजह से हाथों में दरारें पड़ गई हैं। तकलीफ़ भी रहती है। देखिए, आईटीआई करके दुबई के ख़ाब पूरे होते हैं या नहीं!

पढ़ने की, आगे बढ़ने की उम्मीद

मैं दो साल पहले इरशाद के घर गई थी। तब वह पांचवीं जमात में था। उसका “घर” और बैल्ट बनाने का कारख़ाना एक ही है। हाल में स्कूल में मुलाक़ात हुई तो कहा, “मैं आपकी दावत है, मैं आपके लिए खाना पकाऊँगा, मुर्गा और चावल, आप कल आइएगा”। अगले दिन तो मैं नहीं जा पाई लेकिन एक दिन टाइम निकाला और उसके साथ घर पहुंची। खाने के लिए तो प्यार से मना कर दिया था लेकिन साथ में चाय-वाय ज़रूर पी।

यह कारखाना घर 10×12 फुट को होगा। ज़मीन पर प्लास्टिक बिछा है। वहीं पर काम, सोना-जगना-खाना सब होता है। एक तरफ़ सिलाई मशीन, दूसरी तरफ़ चमड़े के किनारे घिसने की मशीन रखी थी। एक तरफ़ फ्रिज भी था। माल भी वहीं था और बैल्ट की कटाई और पैकिंग भी वहीं चल रही थी। कमरे में ऊपर नज़र गई तो देखा 5-6 तार बंधे हैं, यहां रंगने के बाद बैल्ट सुखाई जाती है। यहीं पर एक जगह एक छोटा गैस का सिलण्डर और चूल्हा था जहां खाना पकाया जाता है। एक तरफ़ पानी के कीप भरे हुए रखे थे। मेहमान के इस्तक़बाल के लिए सामान को क़रीने से लगाने की नाकाम कोशिश साफ़ थी।

एक तरफ़ एक छोटी साफ़-सुथरी चादर बिछी थी जहां जाकर मैं बैठ गई। मुझे इरशाद ने बताया था कि हाल में पुरानी जगह से यहां आए हैं। वह जगह बहुत मंहगी हो गई थी। मुझे कमरे के साइज़ में तो कोई फ़र्क नहीं लगा। हां, पहले वाला कमरा ज़्यादा रौशन था, दिन में यहां की तरह बत्ती जलाने की ज़रूरत नहीं थी। इस कमरे का किराया रुपये 3500/- है और बिजली का रुपये 1500/- तक खर्च हो जाता है। पाख़ाना तो ऐसे कई कमरों का एक ही है। यानी कम से कम 40-50 लोगों का एक पाख़ाना।

मुझसे बातचीत करते हुए भी भाइयों के हाथ चल रहे थे। बैल्ट की पैकिंग चल रही थी। इस कमरे में चार भाई रहते हैं। आजकल, एक चच्चा ज्ञात भाई भी काम के लिए आया हुआ है, वह भी साथ ठहरा है। नौशाद को उनके बहनोई ने दिल्ली बुलाया था। फिर उनके भरोसे सगे और दूर के रिश्तेदार दिल्ली आए। नौशाद के हिसाब से, “यहां नबी करीम में ज़्यादातर “बाहर” से आए लोग हैं। “दिल्ली वाले” कम ही हैं। सब मदद करते हैं अच्छा माहौल है”। इरशाद अब सातवीं में है और दिलशाद पांचवीं में। बड़े भाई नौशाद और शमशाद पूरा वक़्त काम को ही देते हैं। इरशाद, दिलशाद मिलकर घर का काम- जैसे खाना बनाना, कपड़े बर्तन धोना-वगैरा कर लेते हैं। साथ ही स्कूल से वापस आकर कुछ काम कुछ घंटे तो कारख़ाने का काम भी करते ही हैं।

भाई नाशौद कहते हैं, “परदेसी की ज़िन्दगी ऐसी ही होती है, हर चीज़ का मोहताज होता है। खाने-पीने के लिए मोहताज, पानी कभी आया कभी नहीं।” आगे यह भी कहा, “हम लोगों की ज़िन्दगी कुछ दिन की है। डॉक्टर कहता है कि रात को जागने से खून जलता है”। हम लोग सुबह 9 बजे से रात दो-ढाई बजे तक काम करते हैं। इतना खटना पड़ता है। पढ़े-लिखे आदमी की बात ही कुछ और होती है। उसे तो बस क़लम चलाना पड़ता है। पढ़ने में सब कुछ सहना पड़ता है।

उनका अरमान भी है और पुरज़ोर कोशिश भी, कि दोनों भाई किसी तरह पढ़ पाएं। उनके ट्यूशन भी लगाए हैं। भाइयों को लाइब्रेरी जाने की सलाह देते हैं। कहते हैं, “किताबों का मुताल्ला करना ज़रूरी है ताकि नॉलेज हासिल हो।” इसी वजह से कई बार उर्दू का अख़बार भी मंगवाते हैं ताकि यह स्कूली किताबों के अलावा इधर-उधर से, “नॉलेज हासिल कर सकें”।

नौशाद भाई छोटे-मोटे गांधी हैं। कहते हैं, “अगर इरशाद-दिलशाद को हाथ का काम करना भी है तो कशीदाकारी ठीक है। उसका पढ़ाई से ताल्लुक़ है।” साथ ही यह भी कहते हैं, “यह सोचेंगे कि हम इस चीज़ से कमाकर बड़े बने तो यह काम को बुरा नहीं कहेंगे। यह हाथ से काम करने वाले लोगों को इज़्जत से देखेंगे। इन्हें तकबुर नहीं होगा, अल्लाह को तकबुर बुरा लगता है।”

इन्हें यह फ़िक्र काफ़ी सताती है कि दोनों भाई किसी तरह पढ़ जाएं। कहने लगे, “बस किसी तरह इन दोनों को पढ़ाना है। वरना लोग कहेंगे”, “भाइयों को ले गए थे, काम करवाया, पढ़ाया नहीं। यह पढ़ जाएंगे तो ख़ानदान का नाम होगा। फ़लाने का भाई, फ़लाने का बेटा, फ़लाने का पोता है। बस यह ही हमारा मनसूबा है”।

आख़ीर में क्या कहूँ? कभी तो लगता है कि हमारे बच्चे हारी हुई दौड़ में शामिल हैं। यह दौड़ इन्हें सिर्फ़ छोटा या बड़ा पुर्जा ही तो बनाएगी। क्या हम और आप शिक्षा तंत्र को झिंझोड़ने, जगाने और बदलने के लिए तैयार हैं? अगली दो किस्तों में हम ज़रा क्लासों के अन्दर झांकने-समझने की कोशिश करेंगे कि वहां क्या चल रहा है। ♦